



इष्टोपदेश

- आचार्य-पूज्यपाद

Index

गाथा / सूत्र	विषय
01)	मंगलाचरण
02)	आत्मा को स्वयं ही स्वरूप की उपलब्धि कैसे?
03)	अवृत से व्रत धारण श्रेष्ठ
04)	व्रत से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति
05)	स्वर्ग सुख का वर्णन
06)	इन्द्रिय सुख-दुःख कल्पना जन्य
07)	मोह ही अज्ञान
08)	मोही जीव की पहचान
09)	संसार का स्वरूप
10)	दूसरों को दुखी करने से स्वयं दुःख की प्राप्ति
11)	अज्ञान से राग-द्वेष द्वारा संसार परिभ्रमण
12)	संसार में दुःख
13)	संसार में सुख की कल्पना व्यर्थ
14)	मोही जीव आने वाली विपत्तियों को भी नहीं देखता
15)	मोही धन को काल (प्राण) से भी अधिक चाहता है
16)	धन-कमाने की इच्छा - मोह
17)	भोग-उपभोग दुःख के कारण
18)	शरीर दुःख का कारण
19)	शरीर के उपकार में आत्मा का अपकार
20)	ध्यान से सभी इष्ट की प्राप्ति
21)	आत्मा का स्वरूप
22)	मन और इन्द्रियों को वश में कर ध्यान करें
23)	वैयावृत्ति की प्रेरणा
24)	ध्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा
25)	आत्मा में आत्मा द्वारा आत्मा का ध्यान
26)	ममत्व भाव बंध का करण, अतः हेय
27)	भेद-ज्ञान की प्रेरणा
28)	देह के सम्बन्ध को दुःख का करण जानकर छोड़ो
29)	देह से भिन्नता
30)	भोगों की इच्छा व्यर्थ
31)	जीव मोह को आसानी से क्यों नहीं छोड़ता
32)	अपनी भलाई में लगाने की प्रेरणा
33)	स्व-पर के भेद को जानना - मोक्ष का कारण
34)	अपना गुरु आप ही है
35)	पर ज्ञान का कारण नहीं, निमित्त-मात्र होता है

36)	एकान्त में क्षोभ-रहित होकर आत्मा में स्थित रहने का उपदेश
37)	आत्मानुभवी के लक्षण
38)	आत्मा में रत रहने वाले को विषय भोग अरुचिकर
39)	योगी के लिए समस्त संसार एक इंद्रजाल
40)	योगी एकान्त-प्रिय होता है
41)	आत्म-स्वरूप में स्थिर के सभी व्यवहार गौण
42)	योगी विकल्पातीत होता है
43)	पर के संस्कार के त्याग का उपदेश
44)	पर पदार्थों से अस्संग ध्यान से निर्जरा
45)	अपने आपके लिए ही उद्यम का उपदेश
46)	अज्ञानी को कर्म नहीं छोड़ते
47)	आत्म-ध्यान से सुख की प्राप्ति
48)	ध्यान का फल
49)	मुमुक्षुओं को सम्यग्ज्ञान की भावना का उपदेश
50)	जीव-पुद्गल भिन्नता ही सारभूत
51)	उपसंहार और टीकाकार द्वारा प्रशस्ति

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्पूज्यपाद-आचार्य-प्रणीत

श्री

इष्टोपदेश

मूल संस्कृत गाथा

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-इष्टोपदेश नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य आचार्य श्री-पूज्यपाद-देव विरचितं ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र इष्टोपदेश नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूँथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीपूज्यपाददेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

॥ श्रोतारः सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

+ मंगलाचरण -

यस्य स्वयं स्वाभावाप्ति, रभावे कृत्स्नकर्मणः
तस्मै संज्ञान-रूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥
स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव
परमात्म सर्वज्ञ को, वंदो करि शुभ भाव ॥१॥

अन्वयार्थ : जिनको सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यग्ज्ञानरूप परमात्मा को नमस्कार हो ।

पं-आशाधरजी :

जिसे आत्मा की परतंत्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं भावरूप समस्त कर्मों के, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जाने से निर्मल निश्चल चैतन्य रूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति हो गई है, उस

सम्पूर्ण ज्ञान-स्वरूप आत्मा को, जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होने से समस्त सांसारिक प्राणियों से उत्कृष्ट है, नमस्कार हो ॥१॥

'स्वयं स्वभावाप्तिः' इस पद को सुन शिष्य बोला कि- 'आत्मा को स्वयं ही स्म्यक्त्व आदिक अष्ट गुणों की अभिव्यक्ति रूप स्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपाय से) हो जाती है ? क्योंकि स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है और बिना दृष्टान्त के उपरिलिखित कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है ? आचार्य इस विषयमें समाधान करते हुए लिखते हैं कि -

+ आत्मा को स्वयं ही स्वरूप की उपलब्धि कैसे? -
योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥
स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय
सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय ॥२॥

अन्वयार्थ : योग्य उपादान कारण के संयोग से जैसे पाषाण-विशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर जीव भी चैतन्य-स्वरूप आत्मा हो जाता है ।

पं-आशाधरजी :

योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारण के मिलने से पाषाण-विशेष, जिसमें सुवर्णरूप परिणमन (होने) की योग्यता पाई जाती है, वह जैसे स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सम्पूर्णता होने पर जीव (संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्य-स्वरूप हो जाता है । दूसरे शब्दों में, संसारी प्राणी जीवात्मा से परमात्म बन जाता है ॥२॥

शंका – इस कथन को सुन शिष्य बोला कि भगवन् ! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के मिलने से ही आत्मा स्व स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब फिर व्रत समिति आदि का पालन करना निष्फल (निरर्थक) हो जायगा । व्रतों का परिपालन कर व्यर्थ में ही शरीर को कृष्ट देने से क्या लाभ ?

समाधान – आचार्य उत्तर देते हुए बोले -- हे वत्स ! जो तुमने यह शंका की है कि व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक हो जायगा, सो बात नहीं है, कारण कि वे व्रतादिक नवीन शुभ कर्मों के बंध के कारण होने से तथा पूर्वोपार्जित अशुभ-कर्मों के एकदेश क्षय के कारण होने से सफल एवं सार्थक हैं । इतना ही नहीं, किन्तु व्रत-संबंधी अनुराग-लक्षणरूप शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है । और वह पुण्य स्वर्गादिक पदों की प्राप्ति के लिए निमित्त कारण होता है । इसलिये भी व्रतादिकों का आचरण सार्थक है ।

+ अव्रत से व्रत धारण श्रेष्ठ -
वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकम्
छायातपस्थयो र्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥
मित्र राह देखते खड़े, इक छाया एक धूप
व्रतपालन से देवपद, अव्रत दुर्गति कूप ॥३॥

अन्वयार्थ : व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है । जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करनेवालों में फर्क पाया जाता है ।

पं-आशाधरजी :

अपने काय के वश से नगर के भीतर गये हुए तथा वहाँ से वापिस आनेवाले अपने तीसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करनेवाले-जिनमें से एक तो छाया में बैठा हुआ है और दूसरा धूप में बैठा हुआ है - दो व्यक्तियों में जैसे बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् छाया में बैठनेवाला तीसरे पुरुष के आने तक सुख से बैठा रहता है और धूप में बैठनेवाला दुःख के साथ समय व्यतीत करता रहता है । उसी तरह जब तक जीव को मुक्ति के कारणभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदिक प्राप्त होते

हैं, तब तक व्रतादिकों का आचरण करनेवाला स्वर्गादिक स्थानों में आनंद के साथ रहता है, दूसरा व्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादिक स्थानों में दुःख भोगता रहता है । अतः व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक नहीं, अपितु सार्थक है ।

शंका – यहाँ पर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है -- 'यदि उपरिलिखित कथन को मान्य किया जायगा, तो चिद्रूप आत्मा में भक्तिभाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा ? कारण कि आत्मनुराग से होनेवाला मोक्षरूपी सुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा रखने के कारण बहुत दूर हो जायगा और बीच में ही मिलने-वाला स्वर्गादि-सुख व्रतों के सहाय से मिल जायगा । तब फिर आत्मनुराग करने से क्या लाभ ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मनुराग की ओर आकर्षित न होते हुए व्रतादिकों की ओर ही अधिक झुक जायेंगे ।

समाधान – शंका का निराकरण करते हुए आचार्य बोले, -- 'व्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं है ।' (अर्थात् सार्थक है), इतनी ही बात नहीं, किन्तु आत्म-भक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है । इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं --

+ व्रत से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति -

**यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्थे किं स सीदति ॥४॥**
**आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर
दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख दूर ॥४॥**

अन्वयार्थ : आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्म-परिणाम के लिये स्वर्ग कितना दूर है ?

पं-आशाधरजी :

आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्म-परिणाम के लिये स्वर्ग कितना दूर है ? न कुछ । वह तो उनके निकट ही समझो । अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्तध्यान से पैदा किये पुण्य का एक फलमात्र है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है । तत्वानुशासन में कहा है -- 'गुरु के उपदेश को प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनंत शक्तिवाला आत्मा चिंतवन करनेवाले को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है । इस आत्मा को अरहंत और सिद्ध के रूप में चिंतवन किया जाय तो यह चरमशरीरी को मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से भुक्ति (सर्व चक्रवर्त्यादि के भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है ।'

श्लोक की नीचे की पंक्ति में उपरिलिखित भाव को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं --

देखो, जो भार को ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं । भार को ले जाते हुए खिन्न न होगा । बड़ी शक्ति के रहने या पाये जाने पर अल्प शक्ति का पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है ॥४॥

इस प्रकार आत्म-भक्ति को जब कि स्वर्ग-सुखों का कारण बतला दिया गया, तब शिष्य पुनः कुतूहल की निवृत्ति के लिये पूछता है कि 'स्वर्ग में जानेवालों को क्या फल मिलता है ?' आचार्य इसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए लिखते हैं --

+ स्वर्ग सुख का वर्णन -

**हृषीकज -मनातङ्गं दीर्घ - कालोपलालितम्
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव ॥५॥**
**इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनही के योग्य ॥५॥**

अन्वयार्थ : स्वर्ग में निवास करनेवाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्ग में रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है। वह सुख इन्द्रियों से पैदा होनेवाला आतंक से रहित और दीर्घ-काल तक बना रहनेवाला होता है।

पं-आशाधरजी :

हे बालक ! स्वर्ग में निवास करनेवालों को, न कि स्वर्ग में पैदा होनेवाले एकेन्द्रियादि जीवों को। स्वर्ग में, न कि क्रीडादिक के वश से रमणीक पर्वतादिक में ऐसा सुख होता है, जो चाहने के अनन्तर ही अपने विषय को अनुभव करनेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियों से सर्वांगीण हर्ष के रूप में उत्पन्न हो जाता है, तथा जो आतंक (शत्रु आदिकों के द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिक के सुख के समान आतंक सहित नहीं होता है। वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े काल-पर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। वह तो भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े काल-पर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। वह तो उल्टा, सागरोपम काल तक, आज्ञामें रहनेवाले देव-देवियों के द्वारा की गई सेवाओं से समय समय पर बढ़ा चढ़ा है पाया जाता है।

'स्वर्ग में निवास करनेवाले प्राणियों का (देवों का) सुख स्वर्गवासी देवों के समान ही हुआ करता है।' इस प्रकार से कहने या वर्णन करने का प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। लोक में भी जब किसी चीज की अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करने के लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे 'भैया ! राम रावण का युद्ध तो राम रावण के युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।'।

अर्थात् इस पंक्ति में युद्ध सम्बन्धी भयंकारता की पराकाष्ठा को जैसा द्योतित किया गया है, ऐसा ही सुख के विषय में समझना चाहिये ॥५॥

शंका- इस समाधान को सुन शिष्य को पुनः शंका हुई और वह कहने लगा- 'भगवन् ! न केवल मोक्ष में, किन्तु यदि स्वर्ग में भी, मनुष्यादिकों से बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर 'मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावे' इस प्रकार की प्रार्थना करने से क्या लाभ ?'

संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करनेवाले शिष्य को 'संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भान्त है।' यह बात बतलाने के लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं -

+ इन्द्रिय सुख-दुःख कल्पना जन्य -

**वासनामात्र-मेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥६॥
विषयों को सुख दुःख मानते, है अज्ञान प्रसाद
भोग रोगवत् कष्ट में, तन मत करत विषाद ॥६॥**

अन्वयार्थ : देहधारियों को जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पना जन्य ही है। देखो ! जिन्हें लोक में सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति के समय में रोगों की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में है।

पं-आशाधरजी :

ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किन्तु तत्त्वज्ञान न होनेके कारण - 'यह मेरे लिये इष्ट है- उपकारक होने से' तथा यह मेरे लिये अनिष्ट है- अपकारक होने से। ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार, जिन्हें वासना भी कहते हैं - इस जीव के हुआ करते हैं। अतः ये सुख-दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं। ये सुख-दुःख उन्हीं को होते हैं, जो देह को ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है --

इस श्लोक में दम्पतियुगल के वार्तालाप का उल्लेख कर यह बतलाया गया है कि वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मन के दुःखी होने से बुरे मालूम होते हैं। घटना इस प्रकार है -- पति-पत्नी दोनों परस्पर में सुख मान, लेते हुए थे कि पति किसी कारण से चिंतित हो गया। पत्नी पति से आलिंगन करने की इच्छा से अंगों को चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी। किन्तु पति जो कि चिंतित था, कहने लगा 'मेरे अंगों को छोड़, तू मुझे संताप पैदा करने वाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओं से बिलकुल ही आनंद या हर्ष नहीं हो रहा है।'।

रमणी के महल, चन्द्रन, चन्द्रमा की किरणें (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युवतियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्यास से सताये हुए व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते । ठीक भी है, अरे ! सारे ठाटबाट सेरभर चावलों के रहनेपर ही हो सकते हैं । अर्थात् पेटभर खाने के लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है । अन्यथा (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं । इसी तरह और भी कहा है –

‘एक पक्षी (चिरबा) जो कि अपनी प्यारी चिरैया के साथ रह रहा था, उसे धूप में रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था । रात के समय जब वह अपनी चिरैया से बिछुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमा की किरणों को भी सहन (बरदाश्त) न कर सका । उसे चिरैया के वियोग में चन्द्रमा की ठंडी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने से लगीं । ठीक ही है, मन के दुःखी होने पर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता ।’

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियों से पैदा होनेवाला सुख वासनमात्र ही है । आत्मा का स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है । यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनमात्र – विभ्रमजन्य न होता, तो संसार में जो पदार्थ सुख के पैदा करनेवाले माने गये हैं, वे ही दुःख के कारण कैसे हो जाते ? अतः निष्कर्ष निकला कि देहधारियों का सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है ॥६॥

शंका- ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि ‘यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं, तो वे लोगों को उसी रूप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं ? आचार्य समझाते हुए बोले-

+ मोह ही अज्ञान -

**मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदन-कोद्रवैः ॥७॥
मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात
मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात ॥७॥**

अन्वयार्थ : मोह से ढंका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बेखबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप में नहीं जान पाता है ।

पं-आशाधरजी :

मोहनीय-कर्म के उदय से ढंका हुआ ज्ञान, वस्तुओं के यथार्थ (ठीक-ठीक) स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्य वाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है । परस्पर में मेल रहने पर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणीभूत धर्म को (भाव को) स्व आसाधारण भाव करते हैं । अर्थात् दो अथवा दो से अधिक, अनेक पदार्थों के बीच मिले रहने पर भी जिस आसाधारण-भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं ।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है- ‘मल सहित मणि का प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है, वैसे ही कर्म-सम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी एक रूप से न होकर अनेक रूप से होता है ।’

यहाँ पर किसी का प्रश्न है कि -

अमूर्त आत्मा का मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है ?

उत्तर-स्वरूप आचार्य कहते हैं -

‘नशे को पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष, घट-पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा, पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है । अर्थात् आत्मा का ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्ति-मान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है । उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब जाते हैं’ ॥७॥

शरीर आदिकों के स्वरूप को न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकों को किसी दूसरे रूप में ही मान बैठता है ।

इसी अर्थ को आगे के श्लोक में स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं –

+ मोही जीव की पहचान -

**वपुर्गृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥**
**पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ
बिल्कुल निज से भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ ॥८॥**

अन्वयार्थ : यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं परंतु मूढ़ प्राणी मोहनीय-कर्म के जाल में फँसकर इन्हें आत्मा के समान मानता है ।

पं-आशाधरजी :

स्व और पर के विवेक-ज्ञान से रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्मा के स्वरूप ही समझता रहता है । अर्थात् दृढ़तम मोह के वश प्राणी देहादिक को ही आत्मा मानता है और दृढतर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिक को आत्मा नहीं, अपितु आत्मा के समान मानता रहता है ॥८॥

+ संसार का स्वरूप -

**दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥**
**दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त
प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त ॥९॥**

अन्वयार्थ : देखो, भिन्न-भिन्न दिशाओं व देशों से उड़ उड़कर आते हुए पक्षिगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अपने अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं ।

पं-आशाधरजी :

जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, बंग आदि विभिन्न देशों से उड़कर पक्षिगण वृक्षों पर आ बैठते हैं, रात रहने तक वहीं बसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अनियत दिशा व देश को ओर उड़ जाते हैं – उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देश से आये हों उसी ओर जावें । वे तो कहीं से आते हैं ओर कहीं को चले जाते हैं – वैसे ही संसारी जीव भी नरकगत्यादिरूप स्थानों से आकर कुल में अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं और फिर अपने अपने कर्मों के अनुसार, आयु के अंत में देवगत्यादि स्थानों में चले जाते हैं । हे भद्र ! जब यह बात है तब हितरूप से समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा में आत्मीय बुद्धि कैसी ? अरे ! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते ? यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपितु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? अतः मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा ठीक-ठीक देखने की चेष्टा कर ॥९॥

+ दूसरों को दुखी करने से स्वयं दुःख की प्राप्ति -

**विराधकः कथं हन्ते जनाय परिकुप्यति
त्र्यङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥**
**अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध
दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध ॥१०॥**

अन्वयार्थ : जिसने पहिले दूसरे को सताया या तकलीफ पहुँचाई है, ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं । अरे ? जो त्र्यंगुल को पैरों से गिराता वह दंडे के द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा ।

पं-आशाधरजी :

दूसरे का अपकार करनेवाला मनुष्य बदले में अपकार करनेवाले के प्रति क्यों हर तरह से कुपित होता है ? कुछ समझ में नहीं आता ।

भाई ! सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है कि संसार में जो किसी को सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःख को प्राप्त किया करता है । जब तुमने किसी दूसरे को दुःख पहुँचाया है, तो बदले में तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये । इसमें गुस्सा करने की क्या बात है ? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है । इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो बिना विचारे काम करनेवाला पुरुष है, वह तीन अंगुली के आकार वाले कूड़ा कचरा आदि के समेटने के काम में आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्र को पैरों से जमीनपर गिराता है, तो वह बिना किसी अन्य की प्रेरणा के स्वयं ही हाथ में पकड़े हुए डंडे से गिरा दिया जाता है । इसलिये अहित करनेवाले व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये ॥१०॥

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकों में राग और शत्रुओं में द्वेष करनेवाला पुरुष अपना क्या अहित - बिगाड़ करता है ? जिससे उनको (राग-द्वेषोंको) अकरणीय-न करने लायक बतलाया जाता है ? आचार्य समाधान करते हैं --

+ अज्ञान से राग-द्वेष द्वारा संसार परिभ्रमण -
रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षण- कर्मणा
अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥
मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार
राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार ॥११॥

अन्वयार्थ : यह जीव अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों की खींचातानी से संसाररूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है- परिवर्तन करता रहता है ।

पं-आशाधरजी :

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच-परावर्तनरूप संसार, जिसे दुःख का कारण और दुस्तर होने से समुद्र के समान कहा गया है, उसमें अज्ञान से- शरीरादिकों में आत्मभ्रांति से अति दीर्घ काल तक घूमता रहता है । इष्ट वस्तु में प्रीति होने को राग और अनिष्ट वस्तु में अप्रीति होने को द्वेष कहते हैं । उनकी शक्ति और व्यक्तिरूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसलिये आचार्यों ने इन दोनों की जोड़ी बतलाई है । बाकी के दोष इस जोड़ी में ही शामिल हैं, जैसा कि कहा गया है :- 'जहाँ राग अपना पाँव जमाता है, वहाँ द्वेष अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है । इन दोनों (राग-द्वेष) के आलम्बन से मन अधिक चंचल हो उठता है । और जितने दोष हैं, वे सब राग-द्वेष से संबद्ध हैं,' जैसा कि कहा गया है --

'निजत्व के होने पर 'पर' का ख्याल हो जाता है और जहाँ निज-पर का विभाग (भेद) हुआ, वहाँ निज में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं । बस इन दोनों के होने से अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं । कारण कि वे सब इन दोनों के ही आश्रित हैं ।'

वह राग-द्वेष की जोड़ी तो हुई मंथानी के डंडे की घुमानेवाली रस्सी को फाँसा के समान और उसका घूमना कहलाया जीव का रागादिरूप परिणमन । सो जैसे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी के खींचा-तानी से जैसे मंथराचल पर्वत को समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा, उसी तरह स्वपर विवेकज्ञान न होने से रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा अथवा कारण में कार्य का उपकार करने से, रागादि परिणाम जनित कर्म-बंध के द्वारा बँधा हुआ संसारी जीव, अनादिकाल से संसार में घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा । मतलब यह है कि रागादि परिणामरूप भाव-कर्मों से द्रव्य-कर्मों का बन्ध होता है । ऐसा हमेशा से चला आ रहा है और हमेशा तक चलता रहेगा । सम्भव है कि किसी जीव के यह रूक भी जाय । जैसा कि कहा गया है: - 'जो संसार में रहने वाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेष आदिरूप परिणमन) होता है, उस परिणाम से कर्म बँधते हैं, बँधे हुए कर्मों के उदय होने से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है, मनुष्यादि गति में प्राप्त होने वाले को (औदारिक आदि) शरीर का जन्म होता है, शरीर होने से इंद्रियों की रचना होती है, इन इंद्रियों से विषयों (रूप-रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं । इस प्रकार जीव का संसाररूपी चक्रवात में भवपरिभ्रमण होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है । जो अनादिकाल से होते हुए अनन्तकाल तक होता रहेगा । हाँ, किन्हीं भव्य जीवों के उसका अन्त भी हो जाता है ।' ॥११॥

यहाँ पर शिष्य पूछता है कि स्वामिन् ! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है, किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है ? कारण कि संसार के सभी प्राणी सुख को ही प्राप्त करना चाहते हैं । जब जीव संसार में ही सुखी हो जाय तो फिर

संसार में ऐसी क्या खराबी है ? जिससे कि संत उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं ? इस विषय में आचार्य कहते हैं - हे वत्स --

+ संसार में दुःख -

**विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥
जबतक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय
पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥१२॥**

अन्वयार्थ : जबतक संसाररूपी पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं ।

पं-आशाधरजी :

पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र को पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें बार बार परिवर्तन होता रहता है । सो जैसे उसमें पैर से दबाई गई लकड़ी या पटलों के व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसाररूपी पदावर्त में एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ जीव के सामने आ खड़ी होती है ।

इसलिये समझो कि एकमात्र दुःखों की कारणभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है । अर्थात् इसका अवश्य नाश करना चाहिये ॥१२॥

फिर शिष्य का कहना है कि भगवन् ! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्ति वाले भी दिखने में आते हैं । इसके विषय में आचार्य कहते हैं-

+ संसार में सुख की कल्पना व्यर्थ -

**दुरज्येनासुरक्षेणनश्वरेणधनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥
कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि
इनसे सुख को कल्पना, जिमि घृत से ज्वर व्याधि ॥१३॥**

अन्वयार्थ : जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है ।

पं-आशाधरजी :

जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले बुखार) से पीड़ित होता है, वह बुद्धि के ठिकाने न रहने से, बुद्धि के बिगड़ जाने से, घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेने से अपने आपको स्वस्थ / निरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई-कोई धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं -- ऐसे इष्ट वस्तुओं से अपने आपको 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुश्किलों से पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है, तथा जो नष्ट हो जाते हैं, स्थिर नहीं रहते, ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है, जैसे कि कहा है --

'धन के कमाने में दुःख, रक्षा करने में दुःख, उसके जाने में दुःख इस तरह हर हालत में दुःख के कारणरूप धन को धिक्कार हो' ।

फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि जब 'मुश्किलों से कमायी जाती' आदि हेतुओं से धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकों में दुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते ?

आचार्य उत्तर देते हैं --

+ मोही जीव आने वाली विपत्तियों को भी नहीं देखता -
विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते
दह्यमान-मृगाकीर्णवनान्तर - तरुस्थवत् ॥१४॥
पर की विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं
जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरूपर ठहराहिं ॥१४॥

अन्वयार्थ : जिसमें अनेकों हिरण दवानल की ज्वाला से जल रहे हैं, ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है ।

पं-आशाधरजी :

धनादिक में आसक्ति होने के कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी चोरादिक के द्वारा की जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्ति को नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियों के शिकार होते हैं, उसी तरह मैं भी विपत्तियों का शिकार बन सकता हूँ । इस वन में लगी हुई यह आग इस वृक्ष को और मुझे भी जला देगी । जैसे ज्वालानल की ज्वालाओं से जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं / जल रहे हैं, उसी वन के मध्य में मौजूद वृक्ष के ऊपर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबरा रहे हैं- छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियों का मुझसे कोई संबंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ । विपत्तियों को सम्बन्ध दूसरों की सम्पत्तियों से है, मेरी सम्पत्तियों से नहीं है ॥१४॥

फिर भी शिष्य का कहना है कि हे भगवन् ! क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती ? आचार्य जबाब देते हैं -- 'लोभात्' लोभ के कारण, हे वत्स । धनादिक की गृद्धता / आसक्ति से धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते हैं, कारण कि --

+ मोही धन को काल (प्राण) से भी अधिक चाहता है -
आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षः, हेतुं कालस्य निर्गमम्
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥
आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनितें अधिकान ॥१५॥

अन्वयार्थ : काल का व्यतीत होना, आयु के क्षय का कारण है और कालान्तर के जैसे ब्याज के बढ़ने का कारण है, ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है ।

पं-आशाधरजी :

धनियों को अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन । धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही ब्याज की आमदनी बढ़ जायगी । वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही मेरी आयु घट जायगी । वह धन-वृद्धि के ख्याल में जीवन (आयु) के विनाश की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता । इसलिये मालूम होता है कि धनियों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है । इस प्रकार के व्यामोह का कारण होने से धन को धिक्कार है ॥१५॥

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निंदा के योग्य क्यों है ? पात्रों को दान देना, देव की पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्य की कारण हैं, वे सब धन के बिना हो नहीं सकतीं । इसलिये पुण्य का साधनरूप धन निन्द्य क्यों ? वह तो प्रशंसनीय ही है । इसलिये जैसे बने वैसे धन को कमाकर पात्रादिकों में देकर सुख के लिये पुण्य संचय करना चाहिये । इस विषय में आचार्य कहते हैं --

+ धन-कमाने की इच्छा - मोह -
त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सञ्चिनोति यः
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचय स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय ॥१६॥

अन्वयार्थ : जो निर्धन, पुण्य-प्राप्ति होगी इसलिये दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है ।

पं-आशाधरजी :

जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्र-दानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है । स्पष्ट बात यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह मूर्ख ही गिना जायगा । उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्र-दानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी समझना चाहिये । संस्कृत-टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय, तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्र-दानादिक करे तो करे ।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध-वृत्ति से हो भी नहीं सकता, जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है- 'सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है । देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं । वर्षा में गँदले पानी में भी भरी रहती हैं' ॥१६॥

उत्थानिका-फिर शिष्य कहता है कि भगवन् ! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है और दुःख का कारण होने से धन निन्द्य है, तो धन के बिना भोग और उपयोग भी नहीं हो सकते, इसलिये उनके लिये धन होना ही चाहिये और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिये । इस विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है', अर्थात् 'पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है । 'भोग और उपभोग के लिये धन साधन है' यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं --

+ भोग-उपभोग दुःख के कारण -

**आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥
भोगार्जन दुःखद् महा, भोजन तृष्णा बाढ
अंत त्यजत गुरू कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ ॥१७॥**

अन्वयार्थ : आरंभ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले तथा अंत में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान् / समझदार ज्यादाती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ?

पं-आशाधरजी :

भोगोपभोग कमाये जाने के समय, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं । यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जो आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःख-क्लेश हुआ करते हैं । कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं । इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है --

'ज्यों-ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग प्राप्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है । मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले । उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है कि अमुक और मिल जाये । उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्व के समस्त ही पदार्थों की चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जायें । परंतु यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाय तब तो तृष्णारूप सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा ? इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं । आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती' जैसा कि कहा भी है --

'यद्यपि अग्नि, घास लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय । समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता । अहो ! कर्मों को कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है ।' और भी कहा है --

'अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य भव-भव में नहीं चेत पाता है ।'

इस तरह आरंभ, मध्य और अन्त में क्लेश-तृष्णा एवं आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान् इंद्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा ? कोई भी नहीं ।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह बात सुनने में नहीं आती है । अर्थात् बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, यही प्रसिद्ध है । तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ?' यह उपेक्ष के साथ मान्य किया जाय ? इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय ? आचार्य जबाब देते हैं - कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ 'कामं अत्यर्थ' आसक्ति के साथ रूचि-पूर्वक यह भी विशेषण लगाया है । तात्पर्य यह है कि चारित्र-मोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी-पुरुष भोगों को त्याज्य / छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान वैराग्य की भावना से इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध-तैयार हो जाता है- जैसा कि कहा गया है -

'यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह अनुषांगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातों पर ख्याल देते हुए बुद्धिमान् पुरुष प्रयत्न किया करता है । मूर्ख ऐसा नहीं करता ।' ॥१७॥

आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है, वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे बताया जाता है -

+ शरीर दुःख का कारण -

**भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि
स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥
शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जाँय
विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय ॥१८॥**

अन्वयार्थ : जिसके सम्बन्ध को पाकर -- जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों एवं विनाशों सहित हैं, अतः भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है ।

पं-आशाधरजी :

जिस शरीर के साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख-प्यास आदि संतापोंकर सहित है । जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से भला बनाने के लिये आकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपाय से यदि उसका एकाध उपाय दर भी किया जाय तो क्षण-क्षण में दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं ॥१८॥

फिर भी शिष्य का कहना है कि भगवन् काय के हमेशा अपायवाले होने से यदि धनादिक के द्वारा काय का उपकार नहीं हो सकता, तो आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं, बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायगा ।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है । कारण कि --

+ शरीर के उपकार में आत्मा का अपकार -

**यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥
आत्म हित जो करत है, सो तनको अपकार
जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार ॥१९॥**

अन्वयार्थ : जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं । जो चीजें शरीर का हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्मा का अहित करनेवाली होती हैं ।

पं-आशाधरजी :

अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, जीव के पुराने व नवीन पापों को नाश करनेवाला होने के कारण, जीव के लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावों को कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है । और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओं को दूर करने में सहायक होते हैं । अतः वे शरीर के उपकारक हैं । किन्तु उसी धन का अर्जनादिक पापपूर्वक होता है । व पापपूर्वक होने से दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति के लिये कारणीभूत है । अतः वह जीव का अहित या बुरा करनेवाला है । इसलिये यह समझ रखो कि धनादिक के द्वारा जीव का लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता । उसका उपकारक तो धर्म ही है । उसी का अनुष्ठान करना चाहिये ।

अथवा काय का हित सोचा जाता है, अर्थात् काय के द्वारा होनेवाले उपकार का विचार किया जाता है । देखिये कहा जाता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर धर्म-सेवन का मुख्य साधन-सहारा है । इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करने के लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं । काय के रोगादिक अपायों का दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यान के द्वारा वह (रोगादिक का दूर किया गया) आसानी से कर दिया जाता है, जैसा कि तत्वानुशासन में कहा है-

'जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है' । मतलब यह है कि 'ज्ञाणस्स ण दुल्लहं किप्पि' ध्यान के लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ध्यान से सब कुल मिल सकता है । इस विषय में आचार्य निषेध करते हैं कि ध्यान के द्वारा काय का उपकार नहीं चिंतन करना चाहिये --

+ ध्यान से सभी इष्ट की प्राप्ति -

**इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥**

**इत चिन्तामणि है महत्, उत खल टूक असार
ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार ॥२०॥**

अन्वयार्थ : इसी ध्यान से दिव्य चिन्तामणि मिल सकता है, इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं । जब कि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे ?

पं-आशाधरजी :

एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थ को देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटा सा खली का टुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यान के द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनों में से किस की ओर विवेकी लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर-पुरुष आदर करेंगे ? इसलिये इस लोक संबंधी फल -- काय की नीरोगता आदि की अभिलाषा को छोड़कर परलोक संबंधी फल की सिद्धि-प्राप्ति के लिये ही आत्मा का ध्यान करना चाहिये । कहा भी है कि --

'वह सब रौद्रध्यान या आर्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फल के चाहनेवाले को होता है । इसलिये रौद्र व आर्तध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिये ।'

अब वह शिष्य जिसे समझाये जाने से श्रद्धान् उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूप से बतलाया है, वह कैसा है ? उस आत्मा का क्या स्वरूप है ? आचार्य कहते हैं --

+ आत्मा का स्वरूप -

**स्वसंवेदन सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः
अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥२१॥
जिन अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमाण
लोकालोक निहारता, आत्म अति सुखवान ॥२१॥**

अन्वयार्थ : आत्मा लोक और अलोक को देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनंत सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है ।

पं-आशाधरजी :

जीवादिक द्रव्यों से घिरे हुए आकाश को लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाश को अलोक कहते हैं । उन दोनों को विशेषरूप से उनके समस्त विशेषों में रहते हुए जो जानने देखनेवाला है, वह आत्मा है । ऐसा कहने से

- 'ज्ञानशून्यचैतन्यमात्रमात्मा' ज्ञान से शून्य सिर्फ चैतन्य-मात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्य-दर्शन तथा
- 'बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्' बुद्धिसुख दुःखादि गुणों से रहित पुरुष है, ऐसा योग-दर्शन खंडित हुआ समझना चाहिये । और बौद्धों का 'नैरात्म्यवाद' भी खंडित हो गया ।
- फिर बतलाया गया है कि 'यह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुख-स्वभाववाला है' । ऐसा कहने से सांख्य और योग-दर्शन खंडित हो गया ।
- फिर कहा गया कि वह 'तनुमात्रः / अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर-परिमाणवाला है' । ऐसा कहने से जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है / आत्म वटकणिका मात्र है' उनका खंडन हो गया ।
- फिर वह आत्मा 'निरत्ययः / द्रव्य रूप से नित्य है' ऐसा कहने से, जो चार्वाक यह कहता था कि 'गर्भ से लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है', उसका खंडन हो गया ।

यहाँ पर किसी की यह शंका है कि प्रमाण-सिद्ध वस्तु का ही गुण-गान करना उचित है । परन्तु आत्मा में प्रमाणसिद्धता ही नहीं है -- वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है । तब ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ? ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन-सुव्यक्त है', स्व-संवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है ।

'जो योगी को खुद का वैद्यत्व व खुद के द्वारा वेदकत्व होता है, बस वही स्व-संवेदन कहलाता है । अर्थात् उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं । अर्थात् जहाँ आत्म ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्य की उस परिणति को स्व-संवेदन प्रमाण कहते हैं । उसी को आत्मानुभव व आत्म-दर्शन भी कहते हैं । इस प्रकार के स्वरूपवाले स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट व आत्मा योगिजनों को एकदेश विशदरूप से अनुभव में आता है' ॥२१॥

यहाँ पर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये ? इसमें आत्म-ध्यान या आत्म-भावना करने के उपायों को पूछा गया है ।

आचार्य कहते हैं --

+ मन और इन्द्रियों को वश में कर ध्यान करें -

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः

आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

मन को कर एकाग्र, सब इंद्रिय-विषय मिटाय

आत्मज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय

अन्वयार्थ : मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे ।

पं-आशाधरजी :

जिसने इन्द्रिय और मन को रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छृंखल एवं स्वैराचारूप प्रवृत्ति को ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले बता आये हैं, आत्मा को आत्मा से ही यानी स्व-संवेदन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान से हो ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञात) होती है । उस ज्ञप्तिमें और कोई करणान्तर नहीं होते । जैसा कि तत्वानुशासनमें कहा है --

'वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है । वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, और पर को भी जानता है । उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है । इसलिये चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति-स्व-संवेदन के द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है । कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं । इसके लिये उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इन्द्रियों की अपने अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति कर ।' यहाँ पर संस्कृत-टीकाकार पंडित आशाधरजी ने 'एकाग्र' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं । एक कहिये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य

अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिये प्रधनता से आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मन को कहेंगे 'एकाग्र' अथवा एक कहिये पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तनमान द्रव्य- आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्य जितना ऐसे मन को एकाग्र कहेंगे ।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान के सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके द्वारा इन्द्रियों को रोक कर स्वात्मा की भावना कर उसी में एकाग्रताको प्राप्त कर चिन्ता को छोड़कर स्व-संवेदन के ही द्वारा आत्मा का अनुभव करे । जैसा कि कहा भी है-

'उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे । जो श्रुतज्ञान को आलम्बन नहीं लेता वह आत्म-स्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है' । इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यापादस्वामी के समाधिशतक में कहा है --

'मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानंदमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ ।' ॥२२॥

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन् ! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा - क्या फल मिलेगा ! क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य जवाब देते हैं --

+ वैयावृत्ति की प्रेरणा -

**अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥
अज्ञ-भक्ति अज्ञान को, ज्ञान-भक्ति दे ज्ञान
लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान ॥२३॥**

अन्वयार्थ : अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है, और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है । यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा ?

पं-आशाधरजी :

अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रांति संदेह) वाले मूढ़-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक । सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है । और ज्ञानी कहिये, ज्ञान-स्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञान-सम्पन्न गुरुओं की तत्परतता के साथ सेवा, स्वार्थवबोधरूप ज्ञान को देती है । जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है --

'ज्ञान होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञान का होना ही है, यह निश्चय से जानो । अहो ! यह मोह का ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढा जाता है । ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है । इसलिये हे भद्र ! ज्ञान की उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है, अनन्य-शरण होकर भावना करने के योग्य है ।' ॥२३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्म-निष्ठ योगी की अपेक्षा से स्वात्म-ध्यान का फल पूछा गया है । आचार्य कहते हैं --

+ ध्यान द्वारा कर्मों की निर्जरा -

**परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी
जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥
परीषहादि अनुभव बिना, आत्म-ध्यान प्रताप
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप ॥२४॥**

अन्वयार्थ : आत्मा में आत्मा के चिंतनरूप ध्यान से परीषहादिक का अनुभव न होने से कर्मों के आगमन को रोकनेवाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है ।

पं-आशाधरजी :

अध्यात्मयोग से आत्मा से आत्मा का ही ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा (एक-देश से कर्मों का क्षय हो जाना, कर्मों का सम्बंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों हो प्रकारों के कर्मों की निर्जरा हो जाती है। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपितु भूखा-प्यास आदि दुःख के भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकों के द्वारा किये गये उपसर्गों की बाधा को अनुभव में न लाने से कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है --

'जिसके पुण्य और पापकर्म, बिना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं -- खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता'। इस श्लोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकार के कर्मों की निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासन में कहा है --

'चरमशरीरी को ध्यान का फल कह देने के बाद आचार्य अचरमशरीरी के ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं कि -- जो सदा ही ध्यान का अभ्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तन्द्रव मोक्षगागी नहीं है) ऐसे ध्याता को सम्पूर्ण अशुभ कर्मों की निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मों का संवर तथा निर्जरा करता है'। इस श्लोक द्वारा पापरूप कर्मों की ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है --

'आत्मा व शरीर के विवेक (भेद) ज्ञान से पैदा हुए आनंद से परिपूर्ण (युक्त) योग, तपस्या के द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहों को भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं'।

यह सब व्यवहारनय से कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मों की निर्जरा होती है, परमार्थ से नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों? आचार्य कहते हैं कि वत्स! सुनो, क्योंकि एकदेश में सम्बंध छूट जाना, इसी को निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा कर्म की (चित्सामान्य के साथ अन्वय व्यतिरेक रखनेवाले पुद्गलों के परिणामरूप द्रव्य-कर्म की) हो सकती है। क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्यों में ही बन सकता है। अब जरा बारीक दृष्टि से विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरूपमात्र में अवस्थान कर रहा है, उस द्रव्य-कर्म का आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्धों में से कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? मतलब यह है कि किसी तरह का संबंध नहीं बन सकता। जिस समय आत्म ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरह से आत्मा पर-द्रव्यों से व्यावृत्त होकर केवल स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। जब उसका दूसरे द्रव्य से संबंध कैसा? क्योंकि संबंध तो दो में रहा करता है, एक में नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरह की अवस्था संसारी-जीव में नहीं पाई जाती। कारण कि संसाररूपी समुद्र-तट के निकटवर्ती अयोगीजनों का मुक्तात्माओं की तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के बोलने में जितना काल करता है, उतने काल तक वैसा (निर्बन्ध बन्ध रहित) रहना संभव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मों का नाश होनेवाला है ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्ल-लेश्या के संस्कार के वश से उतनी देर (पंच ह्रस्व अक्षर बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्म परतन्त्रता का व्यवहार होता है जैसा कि परमागम में कहा गया है-

'जो शीलें के ईशत्व (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रूक गये हैं, तथा जो कर्मरूपी धूली से रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवली होता है' ॥२४॥

उपरिलिखित अर्थको बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो --

+ आत्मा में आत्मा द्वारा आत्मा का ध्यान -

कटस्य कर्त्राहमिति, सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्रवयोः

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

'कट का मैं कर्तार हूँ' यह द्विष्ट सम्बन्ध

आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥२५॥

अन्वयार्थ : 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में संबंध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ संबंध कैसा?

पं-आशाधरजी :

लोक-प्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा जुदा) दो पदार्थों में संबंध हुआ करता है। जैसे बाँस की खपच्चियों से जलादि के संबंध में बननेवाली चटाई का मैं कर्ता हूँ- बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नाम का संबंध हुआ करता है। इस प्रकार संबंध द्विष्ट (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इस को बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है इसको दिखलाते हैं।

'ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च' - जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो- साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है- ध्यान का कर्ता हैं, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है-

'जो ध्यैत्र चिन्तायाम्' धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परन्तु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिंमात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्य-कर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का संबंध होगा ? जिससे कि 'अध्यात्म-योग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परन्तु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का संबंध नहीं, तब छूटना किसका ? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमें कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनय से ही है, परमार्थ से नहीं। ॥२५॥

यहाँ पर शिष्य का कहना है भगवन् ! यदि आत्म-द्रव्य और कर्म-द्रव्य का अध्यात्मयोग के बल से बंध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जाने रूप बंध होगा ? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। और बंध का प्रतिपक्षी, सम्पूर्ण कर्मों को विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते हैं -

+ ममत्व भाव बंध का करण, अतः हेय -

**बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥
मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय
यातें गाढ़ प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय ॥२६॥**

अन्वयार्थ : ममतावाला जीव बाँधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिये हर तरह पूरी कोशिश के साथ निर्ममता का ही ख्याल रखें।

पं-आशाधरजी :

अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेश वाला जीव भी कर्मों से बाँधता है। उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेश वाला जीव भी बाँधता है, जैसा कि अमृतचंद्राचार्य ने समयसार-कलश में कहा है -

'न तो कर्म-स्कंधों से भरा हुआ यह जगत् बंध का कारण है, और न हलन-चलनादि रूप क्रिया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है'। यदि वही जीव निर्मम रागादि रहित उपायोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है। कहा भी है कि -

'मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोक के स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़ें योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है'।

और भी कहा है- 'रागी जीव कर्मों को बाँधता है। रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेप में बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है'। जबकि ऐसा है, तब हर एक प्रयत्न से व्रतादिकों में चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिये।

'शरीरादिक, मुझसे भिन्न है, मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।' इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से मुमुक्षु को भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामी ने कहा है। -

'जब तक मुक्ति नहीं हुई तब तक पर-द्रव्यों से हटने की भावना करे । जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी । बस वही अविनाशी पद जानो' ॥२६॥

यहाँ पर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होवे ? इसमें निर्ममता के चिंतन करने के उपायों का सवाल किया गया है । अब आचार्य उसकी प्रक्रिया को 'एकोअहं निर्ममः' से प्रारंभ कर 'मम विज्ञस्य का स्पृहा' तक के श्लोकों द्वारा बतलाते हैं ।

+ भेद-ज्ञान की प्रेरणा -

**एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥
मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य
कर्मोदय से भाव सब, मोतें पूर्ण अगम्य ॥२७॥**

अन्वयार्थ : मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ । संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा वाहिनी-भिन्न हैं ।

पं-आशाधरजी :

मैं द्रव्यार्थिक-नय से एक हूँ, पूर्वापर पर्यायों में अन्वित हूँ । निर्मम हूँ - 'मेरा यह' / 'मैं इसका' ऐसे अभिनिवेश से रहित हूँ । शुद्ध हूँ, शुद्धनय की अपेक्षा से, द्रव्य-कर्म भाव-कर्म से रहित हूँ, केवलियों के द्वारा तो अनंत पर्याय सहित रूप से और श्रुत-केवलियों के द्वारा शुद्धोपयोग-मात्ररूप से जानने में आ सकने लायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोग से - द्रव्य-कर्मों के संबंध से प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे, हर तरह से (द्रव्य से गुण से पर्याय से) बिल्कुल जुदे हैं ॥२७॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिक के संबंध से प्राणियों को क्या होता है ? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि --

+ देह के सम्बन्ध को दुःख का करण जानकर छोड़ो -

**दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्
त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥
प्राणी जा संयोगतें, दुःख समूह लहात
यातें मन वच काय युत, हूँ तो सर्वर तजात ॥२८॥**

अन्वयार्थ : इस संसार में देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को दुःख-समूह भोगना पड़ता है - अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये इस समस्त संबंध को जो कि मन, वचन, काय की क्रिया से हुआ करते हैं, मन से, वचन से, काय से छोड़ता हूँ ।

पं-आशाधरजी :

अभिप्राय यह है कि मन, वचन, काय का आलंबन लेकर चंचल होनेवाले आत्मा के प्रदेशों को भावों से रोकता हूँ । 'आत्मा, मन वचन काय से भिन्न है,' इस प्रकार के अभ्यास से सुखरूप एक फलवाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और मन, वचन, काय से आत्मा अभिन्न है, इस प्रकार के अभ्यास से दुःखरूप एक फलवाले संसार की प्राप्ति होती है, जैसा कि पूज्यपादस्वामी ने समाधिगतक में कहा है --

'जब तक शरीर, वाणी और मन इन तीनों को ये 'स्व हैं' इस रूप में ग्रहण करता रहता है । तबतक संसार होता है और जब इनसे भेद-बुद्धि करने का अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है ।' ॥२८॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल-शरीरादिकरूपी मूर्त-द्रव्य के साथ जैसा कि आगम में सुना जाता है, जीव का सम्बन्ध है । उस संबंध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बन्धी बाधाएँ भी होती हैं । तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे ? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि -

+ देह से भिन्नता -

**न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥**

**मरण रोग मोमैं नहीं, तातें सदा निशंक
बाल तरूण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक ॥२९॥**

अन्वयार्थ : मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका ? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएँ) पुद्गल में ही पाई जाती हैं ।

पं-आशाधरजी :

'एकोहं निर्ममः शुद्धः' इत्यादिरूप से जिसका स्व-स्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्तिरूप भाव-प्राणों का कभी भी विछोह नहीं हो सकता । जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरण के कारणभूत काल नाम आदिकों से मुझे भय क्यों ? अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता हूँ । इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदि को विषमता को व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थ से ही सम्बन्ध रखनेवाले हैं । जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारों से मुझे व्यथा-तकलीफ कैसी ? उसी तरह मैं बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ । तब बाल, वृद्ध आदि अवस्थाओं से पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशों से मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ ? अच्छा यदि मृत्यु वगैरह आत्मा में नहीं होते, तो किसमें होते हैं ? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गल' ये मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकों में ही हो सकती हैं । कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थों के धर्म हैं । मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं ।

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कहीं हुई नीति के अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही, परन्तु जो जन्म से लगाकर अपनाई गई थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावना के बल में छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकाल में अभ्यस्त-अभेद संस्कार के वश से पश्चाताप करनेवाली हो सकती हैं कि अपनी इन चीजों को मैंने क्यों छोड़ दिया ?

भावक / भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि --

+ भोगों की इच्छा व्यर्थ -

**भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥**
**सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्ट में राग ॥३०॥**

अन्वयार्थ : मोह से मैंने सभी पुद्गलों को बार-बार भोगा, और छोड़ा । भोग भोगकर छोड़ दिया । अब जूठन के लिए (मानिन्द) उन पदार्थों में मेरी क्या चाहना हो सकती है ? अर्थात् उन भोगों के प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है ।

पं-आशाधरजी :

अविद्या के आवेश के वश से अनादिकाल से ही मुझ संसारीजीव ने कर्म आदि के रूप में समस्त पुद्गलों को बार-बार पहले भोगा और पीछे उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) करके छोड़ दिया । जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूठन - उच्छिष्ट भोजन, गन्ध, मालादिकों में जैसे लोगों को फिर भोगने की स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञान से विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलों में क्या अभिलाषा हो सकती है ? नहीं, नहीं, हरगिज नहीं । भैया ! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्व की ही भावना करनी चाहिये ॥३०॥

यहाँ पर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल क्यों बाँध जाते हैं ? अर्थात् जीव के द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं ? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं --

+ जीव मोह को आसानी से क्यों नहीं छोड़ता -

**कर्म कर्म हिताबन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥
कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार ॥३१॥**

अन्वयार्थ : कर्म कर्म का हित चाहते हैं । जीव जीव का हित चाहता है । सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभाव के बढ़ने पर कौन अपने स्वार्थ को नहीं चाहता । अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं ।

पं-आशाधरजी :

कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाते हैं । इस तरह जीव और कर्मों का पहले से (अनादि से) ही बैर चला आ रहा है । ऐसा कहने से मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान् द्रव्य-कर्म, अपना यानी द्रव्य-कर्म का हित करता है अर्थात् द्रव्य-कर्म, जीव में औदयिक आदि भावों को पैदा कर नये द्रव्य-कर्मों को ग्रहणकर अपनी संतान को पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृत चन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है --

'जीव के द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीव से विभिन्न पुद्गल, खुद ब-खुद कर्मरूप परिणाम जाते हैं, और अपने चेतनात्मक परिणामों से स्वयं वही परिणामनेवाले जीव के लिये वह पौद्गलिक कर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है । तथा कालादि लब्धि से बलवान् हुआ जीव अपने हित को अनंत सुख का कारण होने से उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष को चाहता है । यहाँ पर एक स्वाभावोक्ति कही जाती है कि 'अपने-अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को-अपनी अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता ? सभी चाहते हैं' ॥३१॥

इसलिये समझो कि कर्मों से बँधा हुआ प्राणी कर्मों का संचय किया करता है । जबकि ऐसा है तब --

+ अपनी भलाई में लगाने की प्रेरणा -

**परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव
उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥
प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार
सज्जनवत् या मूल को, तज कर निज उपकार ॥३२॥**

अन्वयार्थ : पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ । इंद्रियों के द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकों का उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो । तुम्हें चाहिये कि दुनियाँ की तरह तुम भी अपनी भलाई करने में लगे ।

पं-आशाधरजी :

पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जा रहा है, उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागाता के अभ्यास से छोड़कर प्रधानता से अपने (आत्मा के) उपकार करने में तत्पर हो जाओ । तुम सर्वथा अपने (आत्म) से बाह्य इंद्रियों के द्वारा अनुभव में आनेवाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रूप उपकार करने में लगे हुए थे । इसलिये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप से अज्ञान) हो । जैसे दुनिया के लोग जबतक दूसरे को दूसरे रूप में नहीं जानते, तबतक उनका उपकार करते हैं । परन्तु ज्यों ही वे अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरों का) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करने में लग जाते हैं । इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी बनकर अपनेकी स्वाधीन शुद्ध बनने रूप आत्मोपकार करने में तत्पर हो जाओ ॥३२॥

यहाँ पर शिष्य कहता है कि किस उपाय से अपने और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवाले को क्या होगा ? किस फल की प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते हैं --

+ स्व-पर के भेद को जानना - मोक्ष का कारण -

**गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्
जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥**

गुरु उपदेश अभ्यास से, निज अनुभव से भेद निज-पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख बेखेद ॥३३॥

अन्वयार्थ : जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्व-संवेदन) से अपने और पर के अन्तर को (भेद को) जानता है, वह मोक्ष-संबंधी सुख का अनुभव करता रहता है ।

पं-आशाधरजी :

गुरु कहिये धर्माचार्य अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा, उसके उपदेश से सुदृढ़ स्व-पर विवेक ज्ञान के पैदा करनेवाले वाक्यों के और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये । बार-बार अभ्यास करने से संवित्ति- अपने लक्ष्य का अनुभव होने लगता है । उस संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्मा को पर से भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुख को निरन्तर-हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है । क्योंकि वह मोक्ष-सुख का अनुभव, कर्मों से भिन्न आत्मा का अनुभव करनेवालों को होता है, अन्यो को नहीं । जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है --

'उस आत्मा का अनुभव करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है, और इस तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनंद को प्राप्त कर लेता है' ॥३३॥

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुख अनुभव के विषय में कौन गुरु होता है ? आचार्य कहते हैं --

+ अपना गुरु आप ही है -

**स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥
आपहि निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय
आपहि निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय ॥३४॥**

अन्वयार्थ : जो सत् का कल्याण का वांछक होता है, चाहे हुए हित के उपायों को जतलाता है, तथा हित का प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है । जब आत्मा स्वयं ही अपने में सत् की - कल्याण की यानी मोक्ष-सुख की अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुख के उपायों को जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुख के उपायों में अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिये अपना गुरु आप ही है ।

पं-आशाधरजी :

यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत् की यानी मोक्ष सुख की हमेशा अभिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे । इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुख के उपायों को जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्ष के सुख के उपायों को जतलाने वाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुख के उपाय मुझे करना चाहिये । इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपाय में लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है, कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपाय में हे दुरात्मन् आत्मा ! तुम आज तक अर्थात् अभी तक भी प्रवृत्त नहीं हुए । इस प्रकार अभी तक न प्रवर्तनेवाले आत्मा का प्रवर्तक भी हुआ करता है । इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याण का चाहनेवाला, अपने को सुखोपाय बतलानेवाला और सुखोपाय में प्रवृत्ति करनेवाला होने से अपना गुरु है ॥३४॥

यहाँ पर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी ? बस जब आपस में खुद का खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी । ऐसी भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जायगा । ऐसे बोलनेवाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं --

+ पर ज्ञान का कारण नहीं, निमित्त-मात्र होता है -

**नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति
निमित्तमात्र-मन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥**

मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मते होय ॥३५॥

अन्वयार्थ : पर के कारण मूर्ख ज्ञानी नहीं हो सकता और ज्ञानी मूर्ख नहीं हो सकता । पर पदार्थ धर्मास्तिकाय के सामान निमित्त-मात्र है ।

पं-आशाधरजी :

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञान को धर्माचार्यादिकों के हजारों उपदेशों से भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जैसा कि कहा गया है -

'कोई भी प्रयत्न कार्य की उत्पत्ति करने के लिये स्वाभाविक गुण की अपेक्षा किया करता है । सैकड़ों व्यापारों से भी बगुला तोते की तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है ।'

इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञान से छूटकर हजारों उपायों के द्वारा भी अज्ञत्व को प्राप्त नहीं कर सकता । जैसा कि कहा गया है --

'जिसके कारण भय से घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्ग को छोड़कर इधर-उधर भटकने लग जाय, ऐसे वज्र के गिरनेपर भी अतुल शांति-सम्पन्न योगिगण योग से (ध्यान से) चलायमान नहीं होते । तब ज्ञानरूपी प्रदीप से जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परीषहों के आनेपर चलायमान हो जायेंगे ? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं ।'

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तों का निराकरण ही हो जायेगा ? इसके विषय में जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में सिर्फ निमित्तमात्र हैं । वास्तव में किसी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है । जैसे एक साथ गतिरूप परिणाम के लिये सन्मुख हुए पदार्थों में गति को साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थों की ही गमन करने की शक्ति है । क्योंकि यदि पदार्थों में गमन करने की शक्ति न होवे तो उनमें किसी के द्वारा भी गति नहीं की जा सकती । धर्मास्तिकाय तो गति कराने में सहायकरूप द्रव्यविशेष है । इसलिये वह गति के लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है । यही बात प्रकृत में भी जाननी चाहिये । इसलिये व्यवहार से ही गुरु आदिकों की सेवा शुश्रूषा आदि की जानी चाहिये ॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है ?' इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है । सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं । बार-बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं । यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है । उसके लिये स्थान जैसा होना चाहिये ? कैसे नियमादि रखने चाहिये ? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है । इसी प्रकार साथ में संवित्ति का भी वर्णन करते हैं ।

+ एकान्त में क्षोभ-रहित होकर आत्मा में स्थित रहने का उपदेश -

**अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः
अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥
क्षोभ रहित एकान्तमें, तत्त्वज्ञान चित धाय
सावधान हो संयमी, निज स्वरूप को भाय ॥३६॥**

अन्वयार्थ : जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, जो आत्मा-स्वरूप में स्थित हैं, ऐसा योगी सावधानी पूर्वक एकान्त स्थान में अपने आत्मा के स्वरूप का अभ्यास करे ।

पं-आशाधरजी :

नहीं हो रहे हैं चित्त में विक्षेप- रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्वों में गुरु के उपदेश से जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूप से सवभावभूत वस्तु में भले प्रकार से - यानी जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकों से व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्मा के ठीक-ठीक स्वरूप का एकान्त स्थान में- योगी के लिये योग्य ऐसे शून्य गृहों में, पर्वतों की गृहा कंदरादिकों में, आलस्य - निद्रा आदि को दूर करते हुए अभ्यास करे ॥३६॥

यहाँ पर शिष्य पूछता है भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है ।' यह बात योगी की किस तरह से मालूम हो सकती है ? और उसकी हरएक क्षण में उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है ? आचार्य कहते हैं कि

हे धीमन् ? सुनो मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ --

+ आत्मानुभवी के लक्षण -

**यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥**
**जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥३७॥**

अन्वयार्थ : ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूप का अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगी को आसानी से प्राप्त होनेवाले भी शिष्य अच्छे नहीं लगते ।

पं-आशाधरजी :

जिस जिस प्रकार से योगी की संवित्ति में (स्वानुभवरूप संवेदनमें) शुद्ध आत्मा का स्वरूप झलकता जाता है, सम्मुख आता है, तैसे-तैसे बिना प्रयास से, सहज में ही प्राप्ति होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धि को पैदा नहीं कर पाते हैं, दुनियाँ में भी देखा गया है कि महान् सुख की प्राप्ति हो जानेपर अल्प सुख के पैदा करनेवाले कारणों के प्रति कोई आदर या ग्राह्यभाव नहीं रहता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है --

'जिनका मन शांति-सुख से संपन्न है, ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता । फिर और विषय-भोगों की क्या चर्चा ? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता । उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं ? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रूचिकर प्रतीत नहीं हो सकते । हे वत्स ! देखो, जब मछली के अंगों को जमीन ही जला देने में समर्थ है, तब अग्नि के अंगारों का तो कहना ही क्या ? वे तो जला ही देंगे । इसलिये विषयों की अरूचि ही योगी की स्वात्म-संवित्ति को प्रगट कर देनेवाली है ।'

स्वात्म-संवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरूचि नहीं होती और विषयों के प्रति अरूचि बढ़नेपर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है ॥३७॥

उपरिलिखित भाव को और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं --

+ आत्मा में रत रहने वाले को विषय भोग अरूचिकर -

**यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥**
**जस जस विष्णय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय
तस तस आतम तत्त्व में, अनुभव बढ़ता जाय ॥३८॥**

अन्वयार्थ : ज्यों-ज्यों सहज में भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय-भोग रूचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों त्यों स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव की परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ।

पं-आशाधरजी :

विषय-भोगों के प्रति अरूचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होते हैं त्यों-त्यों योगी वे स्वात्म-संवेदन में निजात्मानुभव को परिणति वृद्धि को प्राप्त होती रहती है । कहा भी है --

'आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं, हे वत्स ! ठहर, व्यर्थ के ही अन्य कोलाहलों से क्या लाभ ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर । देख, हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजवाली आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति)' ॥३८॥

हे वत्स ! स्वात्म-संवित्ति के बढ़नेपर क्या क्या बातें होती हैं, किस रूप में परिणति होने लगती है, आदि बातों को सुन --

+ योगी के लिए समस्त संसार एक इंद्रजाल -

**निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥**
**इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रूचि लात
अन्य विषय में जात यदि, तो मन में पछतात ॥३९॥**

अन्वयार्थ : योगी समस्त संसार को इन्द्रजाल के समान समझता है । आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये अभिलाषा करता है । तथा यदि किसी अन्य विषय में उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चाताप करता है ।

पं-आशाधरजी :

श्लोक नं० ४२ में कहे गये 'योगी योगपरायणः' शब्द को अन्त्यदीपक होने से सभी 'निशामयति स्पृहयति' आदि क्रियापदों के साथ लगाना चाहिये । स्वात्म-संवेदन करने में जिसे आनंद आता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जंगमरूप समस्त बाहरी वस्तुसमूह को त्याग और ग्रहणविषयक बुद्धि का अविषय होने से अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालियाके द्वारा दिखलाये हुए सपहार आदि पदार्थों के समूहके समान देखता है । तथा चिदानंद-स्वरूप आत्मा के अनुभवकी इच्छा करता है, और अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में पहले संस्कार आदि कारणों से यदि मन से, वचन से या काय से, प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँ से हटकर खुद ही पश्चाताप करता है, कि ओह ! यह मैंने कैसे आत्मा का अहित कर डाला ॥ ३९ ॥

आत्मानुभवी के और भी चिह्नों को दिखाते हैं --

+ योगी एकान्त-प्रिय होता है -

**इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः
निज कार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥**
**निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार ॥४०॥**

अन्वयार्थ : निर्जनता को चाहनेवाला योगी एकान्तवास की इच्छा करता है और निज कार्य के वश से कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है ।

पं-आशाधरजी :

लोगों के मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने की वार्ताएं न हुआ करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलब से लाभ-अलाभ आदिक के प्रश्न पूछने के लिये आनेवाले लोगों को मना करने के लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभाव से ही जन-शून्य पहाड़ों की गुहा-कन्दरा आदिकों में गुरुओं के साथ रहना चाहता है । ध्यान करने से लोक-चमत्कारी बहुत से विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है --

'गुरु से उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, धारणाओं में श्रेष्ठता प्राप्त हो जाने से ध्यान के अतिशयों को भी देखने लग जाता है ।'

अपने शरीर के लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके वश से कुछ थोड़ा सा श्रावकादिकों से 'अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि' कहकर उसी क्षण भूल जाता है । भगवन् ! क्या कह रहे हो ? ऐसा श्रावकादिकों के द्वारा पूछे जानेपर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता । तथा- ॥४०॥

+ आत्म-स्वरूप में स्थिर के सभी व्यवहार गौण -

**ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥**

देखत भी नहीं देखते, बोलत बोलत नाहिं दृढ़ प्रतीत आत्ममयी, चालत चालत नाहिं ॥४१॥

अन्वयार्थ : जिसने आत्म-स्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है ।

पं-आशाधरजी :

जिसने अपने को दृढ़ प्रतीति का विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारों के वश से या दूसरों के संकोच से धर्मादिक का व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है, ऐसा समझाना चाहिये, क्योंकि उनको बोलने की ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता है । जैसा कि कहा है-

'आत्म-ज्ञान के सिवा दूसरे कार्य को अपने प्रयोग में चिरकाल-तक ज्यादा-देर तक न ठहरने देवे । किसी प्रयोजन के वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीर के द्वारा करे' । इसी प्रकार भोजन के लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादिकों को देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये । फिर - ॥ ४१॥

+ योगी विकल्पातीत होता है -

**किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्केत्यविशेषयन्
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥
क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आत्म राम
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम ॥४२॥**

अन्वयार्थ : ध्यान में लगा हुआ योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादिक विकल्पों को न करते हुए अपने शरीर को भी नहीं जानता ।

पं-आशाधरजी :

यह अनुभव में आ रहा अंतस्तत्व, किस स्वरूपवाला है ? किसके सदृश है ? इसका स्वामी कौन है ? किससे होता है ? कहाँ पर रहता है ? इत्यादिक विकल्पों को न करता हुआ किन्तु समरसीभाव को प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीर तक का भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीर से भिन्न वस्तुओं की चिन्ता करने की बात ही क्या ? जैसा कि कहा गया है -

यहाँ पर शिष्य कहता है कि भगवन् ! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशा का हो जाना कैसे संभव है ?

उस समय आत्मा में आत्मा को ही देखनेवाले योगी को बाहरी पदार्थों के रहते हुए भी परम एकाग्रता होने के कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है ॥४२॥

आचार्य कहते हैं, धीमन् ! सुनो, समझो --

+ पर के संस्कार के त्याग का उपदेश -

**यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥
जो जामें बसता रहे, सो तामें रूचि पाय
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहीं जाय ॥४३॥**

अन्वयार्थ : जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है ।

पं-आशाधरजी :

जो मनुष्य, जिस नगरादिक में स्वार्थ की सिद्धि का कारण होने से बन्धुजनों के आग्रह से निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफ से चित्त हटाकर आनंद का अनुभव करने लग जाता है और जो जहाँ आनंद का अनुभव करता रहता है, वह वहाँ से दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं । इसलिये समझो कि आत्मा में अध्यात्म में रहनेवाले योगी अननुभूत -- जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ और अपूर्व आनंद का अनुभव होते रहने से उसकी अध्यात्म के सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती ॥४३॥

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है ? उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं --

+ पर पदार्थों से अस्संग ध्यान से निर्जरा -

**अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बध्यते न विमुच्यते ॥४४॥
वस्तु विशेष विकल्प को, नहीं करता मतिमान
त्यात्मनिष्ठता से छूटत, नहीं बँधता गुणवान ॥४४॥**

अन्वयार्थ : अध्यात्म से दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिक की सुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मों की ओर विचार नहीं करता और जब उनके विशेषों को नहीं जानता, तब वह बंध को प्राप्त नहीं होता, किंतु विशेष रूप से छूट जाता है ।

पं-आशाधरजी :

स्वात्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्म से भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब उस स्वात्मा से भिन्न शरीरादिक के सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषों से अनभिज्ञ हो जाता है और उनकी विशेषताओं पर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग-द्वेष पैदा न होने के कारण कर्मों से बंधता नहीं है, किन्तु व्रतादिक का आचरण करनेवालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है ॥४४॥

और भी कहते हैं --

+ अपने आपके लिए ही उद्यम का उपदेश -

**परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥
पर पर तातें दुःख हो, निज निज हो सुखदाय
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय ॥४५॥**

अन्वयार्थ : दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसलिये उससे सुख होता है । इसीलिये महात्माओं ने आत्मा के लिये ही उद्यम किया है ।

पं-आशाधरजी :

पर देहादिक अर्थ, पर ही है । किसी तरह से भी उन्हें आत्मा या आत्मा के सदृश नहीं बनाया जा सकता । जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्मा के मान लेने से) दुःख ही होगा । कारण कि दुःख के कारणों की प्रवृत्ति उन्हीं के द्वारा हुआ करती है । तथा आत्मा आत्मा ही हैं, वह कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता । जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा । कारण कि दुःख के कारणों को वह अपनाता ही नहीं है । इसीलिये तीर्थकर आदिक बड़े-बड़े पुरुषों ने आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के लिये अनेक प्रकार के तपों के अनुष्ठान करने में निद्रा, आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया ॥४५॥

परद्रव्यों में अनुराग करने से होनेवाले दोष को दिखाते हैं --

+ अज्ञानी को कर्म नहीं छोड़ते -

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्
न जातु जन्तोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥
पुद्गल को निज जानकर, अज्ञानी रमजाय
चहुँगति में ता संग को, पुद्गल नहीं तजाय ॥४६॥

अन्वयार्थ : जो अज्ञानी पुद्गल-द्रव्य में रमता है, उसे पुद्गल अपने साथ चारों गतियों में नहीं छोड़ता है ।

पं-आशाधरजी :

जो हेयोपादेय के स्वरूप को न समझनेवाला, शरीरादिक पुद्गल द्रव्य को आपरूप तथा अपने को पररूप मानता है, उस जीव के साथ नरकादिक चार गतियों में वह पुद्गल अपना सम्बंध नहीं छोड़ता है, अर्थात् भव-भव में वह पुद्गल-द्रव्य जीव के साथ बँधा ही रहता है । उससे पिंड नहीं छूट पाता ॥४६॥

आत्म-स्वरूप में तत्पर रहनेवाले को क्या होता है ?

आचार्य कहते हैं --

+ आत्म-ध्यान से सुख की प्राप्ति -

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥
ग्रहण त्याग से शून्य जो, निज आतम लवलीन
योगी को हो ध्यान से, कोइ परमानंद नवीन ॥४७॥

अन्वयार्थ : व्यवहार को छोड़कर आत्मा में स्थित योगी को योग के बल से कोई विचित्र प्रकार का परमानंद प्राप्त होता है ।

पं-आशाधरजी :

देहादिक से हटकर अपने आत्मा में स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षणवाले व्यवहार से बाहर दूर रहनेवाले ध्यानी योगी पुरुष को आत्म-ध्यान करने से कोई एक वचनों के अगोचर परम जो दूसरों को नहीं हो सकता ऐसा आनंद उत्पन्न होता है ॥४७॥

उस आनंद के कार्य को बताते हैं --

+ ध्यान का फल -

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥
निजानंद नित वहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय
बाह्य दुःख नहीं वेदता, योगी खेद न पाय ॥४८॥

अन्वयार्थ : जैसे अग्नि, ईन्धन को जला डालता है, उसी तरह आत्मा में पैदा हुआ परमानंद, हमेशा से चले आए प्रचुर कर्मों को अर्थात् कर्म-सन्तति को जला डालता है, और आनंद सहित योगी, बाहरी दुःखों के - परीषह उपसर्ग-संबंधी क्लेशों के अनुभव से रहित हो जाता है । जिससे खेद को (संक्लेश को) प्राप्त नहीं होता ।

पं-आशाधरजी :

इसलिये --

+ मुमुक्षुओं को सम्यग्ज्ञान की भावना का उपदेश -

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत्
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥
पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥४९॥

अन्वयार्थ : अविद्या को दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसी के विषय में पूछना चाहिये, उसी की बांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभव में लाना चाहिये ।

पं-आशाधरजी :

वह आनंद स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विभ्रम को नष्ट करनेवाली, स्वार्थ को प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादि कों के द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है । मोक्ष की इच्छा रखनेवालों को चाहिये कि वे गुरू आदिकों से उसी के विषय में पूछ-ताछ करें तथा उसी को चाहें एवं उसी का अनुभव करें ॥४९॥

इस प्रकार शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर आचार्य अब परम करूणा से उस कहे हुए अर्थ-स्वरूप को संक्षेप के साथ शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा से कहते हैं कि 'हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले ! बहुत कहने से क्या ? हेय-उपादेय तत्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है । उन्हें साररूप में बतलाया जा सकता है ।'

+ जीव-पुद्गल भिन्नता ही सारभूत -

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥
जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार
अन्य कछू व्याख्यान जो, याही का विस्तार ॥५०॥

अन्वयार्थ : 'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है' बस इतना ही तत्त्व के कथन का सार है, इसी में सब कुछ आ गया । इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है ।

पं-आशाधरजी :

'जीव शरीरादिक से भिन्न है, शरीरादिक' जीव से भिन्न है' बस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्व का सम्पूर्ण रूप से ग्रहण (निर्णय) हो जाय । और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रह के सिवाय भेद-प्रभेद आदिक विस्तार में सुनने की रूचि-इच्छा रखनेवाले शिष्यों के लिये आचार्यों ने कहा है, वह सब इसी का विस्तार है । इसी एक बात को 'जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है' समझाने के लिये ही कहा गया है । जो विस्तार किया है । उसको भी हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं ॥५०॥

आचार्य शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात् अथवा परम्परा से होनेवाले फल को बतलाते हैं --

+ उपसंहार और टीकाकार द्वारा प्रशस्ति -

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥
इष्टरूप उपदेश को, पढ़े सुबुद्धी भव्य
मान अमान में साम्यता, जिन मन से कर्तव्य ॥
आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वन में सु वसेय
उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय ॥५१॥

अन्वयार्थ : इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहित की परीक्षा करने में दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञान से मान और अपमान में समता का विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने, ऐसा होकर नगर अथवा वन में विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा-रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है ।

पं-आशाधरजी :

इष्ट कहते हैं सुख को-मोक्ष को और उसके कारणभूत स्वात्म-ध्यान को । इस इष्ट का उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थ को कहते हैं 'इष्टोपदेश' । इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चय से पठन एवं चिन्तन करके हित और अहित की परीक्षा करने में चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनंत-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं -- इस इष्टोपदेश के अध्ययन-चिन्तन करने से उत्पन्न हुए आत्म-ज्ञान से मान-अपमान में राग-द्वेष को न करना रूप समता का प्रसार कर नगर-ग्रामादिक में अथवा निर्जन-वन में विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है बाहरी पदार्थों में मैं और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने, ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनंत ज्ञानादि गुणों को और सम्पत्तिरूप मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है । जैसा कि कहा गया है --

'जिस समय तपस्वी को मोह के उदय से -- मोह के कारण राग-द्वेष पैदा होने लगें, उस समय शीघ्र ही अपने में स्थित आत्म की समता से भावना करे, अथवा स्वस्थ आत्मा की भावना भावे, जिससे क्षणभर में वे राग-द्वेष शांत हो जावेंगे' ॥५१॥

आगे इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी कहते हैं कि --

विनयचन्द्र नामक मुनि के वाक्यों का सहारा लेकर भव्य प्राणियों के उपकार के लिये मुझ आशाधर पण्डित ने यह 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ की टीका की है । सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्र से विनयचन्द्र हुए जो कि उपशम की (शांति की) मानो मूर्ति ही थे तथा सज्जन पुरुषरूपी चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान थे और पवित्र चारित्रवाले जिन मुनि के अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रों की रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगत को तृप्ति व प्रसन्नता, करनेवाले हैं । जगद्वंद्य श्रीमान नेमिनाथ जिनभगवान के चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रय में रहनेवाली धूलि भी राजाओं के मस्तक पर जा बैठती है ।
